

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३५ अंक-१६२, वर्ष-१४, मार्च-२०११

पोष सुदि ३, शुक्रवार दिनांक १३-१-१९६९, पुरुषार्थसिद्धियुपाय,
गाथा-१४ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन-१६

चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति, प्रकाश का पूँज और स्वच्छता का सागर, ऐसा जो स्वरूप, उसे ऐसे निमित्त को अधीन हुए, निमित्त द्वारा हुए, पर द्वारा हुए, दुश्मन द्वारा (हुए उपाधि भाव हैं)। नहीं कहा जाता कि भाई ! तुझे इसका संग हुआ है। इसके द्वारा तुझे दोष हुआ। हालाँकि किया है तो खुदने। ऐसे कर्म के संग द्वारा हुए 'परसंग एव' उपाधिभाव, मलिनभाव ऐसे संयुक्त मलिनभाव से निर्मलानंद प्रभु सहित नहीं है, रहित है। आहा..! समझ में आया ?

पूरा चैतन्य शुद्ध आनन्द का गोला, ध्रुव सागर समुद्र, स्वभाव का सागर ऐसा भगवान एक क्षण की कृत्रिम उपाधि का मेल सहित नहीं है। आहाहा..! एकत्व-विभक्त। वह एकत्व-विभक्त कहा है न ? वहाँ दूसरे अर्थ में है। यहाँ इसप्रकार कहा है। भगवानआत्मा मलिन परिणाम से विभक्त है, एकत्व नहीं है। आहाहा..! ऐसा चैतन्य स्वभाव भगवान, उसे विकारसहित (मानना)। विभक्त है उसे एकत्वरूप मानना उसीका नाम ही मिथ्यादर्शन और मिथ्यात्व है, संसार में भटकने का यह कारण है। कहीये, समझ में आया कि नहीं यह ? कहीये, समझ में आया ? वाह ! बढ़िया बात, भाई ! शैली कैसी अनूठी है ! आचार्य की शक्ति गजब की है। इसके पीछे कितना काम करता है ! क्षयोपशम ज्ञान कितना काम करता है !

कहते हैं, भाई ! देखो ! कर्म संसार का बीज है ऐसा न कहा। कर्म संसार का बीज है ऐसा न कहा। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में कहा है न ? भाई ! कर्म का निदान बतायेंगे। परन्तु वह तो हेतु, निमित्त कौन है ऐसा कहा है। संसार का बीज कर्म नहीं, वैसे संसार का बीज स्वभाव नहीं। आत्मस्वभाव शुद्ध चैतन्य की मूर्ति वह संसार का बीज नहीं, वह तो मोक्ष का बीज है। कर्म संसार का बीज नहीं वह तो जड़ है। संसार पर्याय तो विकारी है, इसका बीज जड़ नहीं होता। संसार चौराशी के अवतार में भटकने का बीज, निर्मलानंद के नाथ को मलिनता सहित मानना वह संसार में भटकने का बीज है। वह भी क्या कहा ? देखो !

'तो भी अज्ञानी को...' भाषा ऐसी है, देखो ! 'बालिशानां' है न ? 'बालिशानां' अज्ञानी को 'अपने अज्ञान से...' भाषा आयी है। 'बालिशानां प्रतिभास' है न ? अज्ञानी को अज्ञान के कारण भासित होता (है), ऐसा पुनः सिद्ध करना है। 'अज्ञानी को अपने अज्ञान से' वहाँ अगर ऐसा कहने का आशय होता फिर तो ऐसा ही कहते कि, ऐसा भी दर्शनमोह के कारण वहाँ ऐसा भास होता है। निमित्त से अगर दोष होता तो यहाँ भी ऐसा कहना



चाहिये था कि, अज्ञानी को निमित्त के कारण, दर्शनमोह के कारण ऐसे अशुद्धता के मलिनभाव को शुद्धता में खताते हैं, सहित मानते हैं ऐसी मान्यता में कारण दर्शनमोह का है। समझ में आया ?

उपाय दिखाना है न ? उलटे पुरुषार्थ से किया उसे सुलटे पुरुषार्थ द्वारा मिटा सके तभी तो पुरुषार्थसिद्धि का उपाय कहलायेगा न ? इसके अधिकार में टालने की बात नहीं हो सकती, अगर करने का अधिकार न हो तो टालने का अधिकार भी नहीं रहा। विकार करने का जीव के अधिकार में नहीं होता जब तो पर का अधिकार (हो गया फिर तो) टालने का पर के अधिकार में हो गया। समझ में आया ? भारे मुश्किल बात ! कितनी सरलता से बात स्थापित की है; लीजिये।

‘अपि बालिशानां युक्तः इव प्रतिभांति’ वह **‘प्रतिभासः स खलु भवबीजम्’** वह आखिर में आगे रखेंगे। अज्ञान से **‘अपने अज्ञान से...’** यानी ? शुद्ध स्वरूप ज्ञानानन्द की ओर लक्ष्य नहीं करता, पूर्णानन्द का स्वभाव इसकी ओर नहीं देखता, इसका अभाव करके विकार के परिणाम को, अज्ञानी अपने अज्ञानवश अपने में भास करता है। वह मेरे स्वरूप में है ऐसा भास करता है, मेरे स्वरूप में है ऐसा भासित होता है। बस ! यह ऐसा भास ही मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया ? **‘यह आत्मा कर्म द्वारा किये हुए नाना प्रकार के भावों से संयुक्त...’** सहित, युक्त **‘नहीं है तो भी अज्ञानी जीवों को अपने...’** शुद्धस्वरूप के अभान के कारण मिथ्याभाव से **‘आत्मा कर्मजनित भावों से संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है।’** समझ में आया ?

‘भावार्थ :- पहले ऐसा कहा गया है कि पुद्गलकर्म का कारण भूत रागादिभाव है।’ ऐसा कहा था न पहली गाथाओं में ? नये कर्म बंधन हो उसमें आत्मा के राग-द्वेष मलिनभाव है सो निमित्त है। **‘रागादिभाव का कारण पुद्गलकर्म है।’** परस्पर। जीव विकार करे उसमें पुद्गलकर्म का निमित्त है और कर्म जो बंधते हैं उसमें जीव के राग-द्वेष आदि भाव निमित्त हैं। एक-दूसरे को आपस में। **‘इसलिये यह आत्मा**

निजस्वभावभाव की अपेक्षा...’ देखो ! इसलिये यह आत्मा निज स्वभावभाव, त्रिकाली स्वभाव शुद्धभाव की अपेक्षा से **‘कर्मजनित नाना प्रकार के भावों से भिन्न ही चैतन्यमात्र वस्तु है।’** समझ में आया ?

पुद्गलकर्म के कारण जड़ को बँधने में कारण-निमित्त राग-द्वेष (है) और राग-द्वेष को निमित्त पुद्गलकर्म (है)। दो बात न (हुई)। निमित्त के अधीन हुए कर्मजनित भावों से भिन्न ही चैतन्यमात्र वस्तु है। समझ में आया ? क्योंकि राग-द्वेष के भाव निमित्त के अधीन हुए थे और राग-द्वेष के भाव से रहित चैतन्य का स्वभाव है। निमित्त के अधीन हुए भाव स्वभाव में नहीं है। अतः यह आत्मा निजस्वभाव भाव की, निज स्वभाव शुद्ध आनन्द और ज्ञान(स्वरूप), जिसमें विकल्प का अवकाश नहीं है, उसे ऐसे विकल्प सहित स्वीकार करना। आहाहा..! देखो न। कैसी शैली ! अपेक्षा से कर्मजनित प्रकार या भाव जो भी विकल्प है, इससे जनित कहे थे, ऐसा कहते हैं। स्वभावभाव की अपेक्षा से कहा। निमित्त को अधीन हुए स्वभावभाव की अपेक्षा से पर से किये हुए ऐसा कहा गया है। ऐसे **‘भावों से भिन्न ही चैतन्यमात्र वस्तु है।’** केवल ज्ञान का पिण्ड प्रभु चैतन्य का पूज वह तो विकार, निमित्त के अधीन उत्पन्न विकार कृत्रिम क्षणिक (होते हैं) इतने में वह आ नहीं गया, इससे सर्वथा भिन्न ज्ञायक स्वभाव मौजूद है। समझ में आया ? दिगम्बर आचार्य के कथन की पद्धति, मूल वस्तु को दर्शाने की रीत... इसका अब अर्थकार दृष्टांत देते हैं।

‘जिस प्रकार लाल फूल के निमित्त से स्फटिक लाल रंग रूप परिणमन करता है...’ वह स्वयं की स्फटिक की परिणमन करने की योग्यता से परिणमन करता है। फूल से ही परिणमन करता तो लकड़ा भी इसके निमित्त से लाल रंग का हो जाना चाहिये। लेकिन इस लकड़े में होता है ? यह लकड़ा पड़ा, देखो ! होता है इसमें ? स्फटिक होगा तो वैसा होगा। क्योंकि वह अपनी स्वतंत्र योग्यता से परिणमन करता है। इसे यूँ स्फटिक के नीचे रखेंगे तो लाल दिखेगा, इसमें नहीं (दिखेगा)। क्योंकि वह स्फटिक अपनी स्वयं की वैसे परिणमन करने

की योग्यता से परिणमनता है, इसके कारण से नहीं। यदि इसके कारण से होता तो लकड़े में भी वैसा होना चाहिये था। समझ में आया ? 'परिणममानस्य' को यहाँ सिद्ध करके कहते हैं कि, स्वयं अपनी योग्यतावाला हो वह परिणमन करता है, स्फटिक में भी वैसा है।

'परन्तु वह लालरंग स्फटिक का निजभाव नहीं है।' जो लाल रंग रूप परिणमन करता है उस क्षण भी स्फटिक के शुद्ध स्वभाव का वह रूप नहीं। **'स्फटिक तो स्वच्छतारूप...'** स्फटिक तो स्वच्छतारूप। बड़ा 'स्फटिक' एक 'जामनगर' में देखा था। डाक्टर ने दिखाया था। ये है न ? (संवत्) १९९१ में दिखाया था, यह 'समयसार' की १००वीं गाथा चल रही थी न ? वहाँ संप्रदाय में। दिखाया था इतना बड़ा स्फटिक, बड़ा डाक्टर है। छः लाख का एक सोलिरियम है। 'जामनगर' में एक छः लाख का यंत्र है। उस जमाने में छः लाख की कीमत हों ! अभी तो बहुत बढ़ गये। सूरज का यंत्र। रोगी को सूरज के किरण देते हैं। पूरा यंत्र घुमाते हैं, बड़ा छः लाख का एक यंत्र। मुझे डाक्टर ने दिखाया था। उस स्फटिक को देखो तो पारदर्शक, सफेद... सफेद... समझ में आया ? क्या कहते हैं ?

'जिस प्रकार लाल फूल के निमित्त से स्फटिक...' निमित्त से, हँ ! उपादान स्वयं का। **'स्फटिक लाल रंगरूप परिणमन करता है परन्तु वह लाल रंग स्फटिक का निजभाव नहीं है।'** निजस्वभाव नहीं है। **'स्फटिक तो स्वच्छतारूप अपने श्वेतवर्ण से ही विराजमान है।'** भाषा देखो ! स्फटिक तो अपने स्वच्छतारूप अपने सफेद वर्ण से ही टिक रहा है। विराजमान माने शोभा दे रहा है। **'लाल रंग है वह तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना...'** वह लाल रंग जो है वह स्वरूप में प्रवेश किये बिना स्फटिक के भीतर दाखिल हुए बिना, **'ऊपर ऊपर ही झलक मात्र दिखाई पड़ता है।'** ऊपर-ऊपर झलक... झलक... झलक... लाल-लाल ऊपर झलक दिखती है। झलक समझते हो ? क्या कहते हैं ? झलक कहते हैं ? कपड़ा होता है न ? हरा कपड़ा। हरे रंग का हो। फिर यूँ सहज प्रकाश में रखे तो झलक लगे। कपड़ा

होता है न स्वच्छ ? लाल हो, हरे रंग का हो, अच्छे साबून से धोकर स्वच्छ किया हो। वैसे तो सफेद लगे। दरवाजे में प्रकाश में रखे तो इसकी झलक उठेगी। यह कपड़ा पहले हरे रंग का था। झलक फेर।

वैसे सफेद-स्वच्छता भगवान। यहाँ तो आत्मा के साथ इसे मिलान करेंगे, हँ ! यह तो रंग की स्वच्छता है अपने स्वभाव के रंग की, इसमें लाल रंग की तो झलक मात्र है। **'वहाँ रत्न का पारखी जौहरी...'** वह रत्न का पारखी, पारखी-परीक्षक जौहरी तो **'ऐसे ही जानता है...'** एक बात। बस ! इतनी। वहाँ, **'रत्न का पारखी जौहरी ऐसे ही जानता है।'** क्या ऐसे ही जानता है ? कि स्फटिक तो स्फटिक स्वच्छ ही है, यह तो ऊपर की झलक है वह उसमें घुस नहीं गई। समझ में आया ?

'परन्तु अपारखी (अपरीक्षक) पुरुष को सत्यरूप (वास्तव में) वह स्फटिक मणि ही रक्त मणिवत्...' सच में जो लाल मणि होता है वैसे **'लाल रंग के स्वरूप प्रतिभासित होती है।'** सत्वरूप जो लाल मणि की माफिक लालरंगरूप ही प्रतिभासित होती है। समझ में आया ? अपरीक्षक पुरुष को सत्यरूप जो लाल मणि की माफिक लालरंगरूप लाल (भासित होती है)। लालमणि जैसे पूरी लालरूप ही दिखती है। वैसे है तो यह स्वच्छ फिर भी पूरा लाल मणि हो ऐसा उसको लगता है। अपरीक्षक (है)। यह दृष्टांत (हुआ)।

'उसीप्रकार कर्मनिमित्त से आत्मा रागादिरूप परिणमन करता है।' कर्म के संग से स्वच्छ ऐसा भगवानआत्मा है फिर भी कर्म के लक्ष से, आश्रय से पुण्य-पाप के विकारीभावरूप होता है। ये रागादि आत्मा के निजभाव नहीं हैं। आहाहा..! शुभ-अशुभ राग, शुभ-अशुभ विकल्प वह आत्मा का भाव नहीं है, त्रिकालीभाव नहीं है, स्वभावभाव नहीं है। **'आत्मा तो अपने स्वच्छतारूप चैतन्यगुण में विराजमान है।'** **'आत्मा तो अपने स्वच्छतारूप...'** देखो ! स्वच्छतारूप चैतन्यगुण, स्वच्छतारूप चैतन्यगुण, ज्ञायकगुण इसमें आत्मा विराजमान है। आत्मा तो चैतन्यगुण में विराजमान है।

‘रागादि है वह तो स्वरूप में प्रवेश किये बिना...’ उसका लालरंग प्रवेश किये बिना वैसे पुण्य और पाप के भाव अंतर शुद्ध स्वरूप में प्रवेश किये बिना ‘ऊपर ही ऊपर झलक मात्र दिखाई देता है।’ आहाहा..! शुभ-अशुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध आदि शुभाशुभ राग, वे चैतन्य के शुद्ध स्वरूप में प्रवेश नहीं किये। वे तो ऊपर ही ऊपर झलक मात्र विकार दिखाई पड़ते हैं। इसके दृष्टांत से तो बात की है, अब इसमें कुछ नहीं समझ में आये ऐसी बात नहीं है। आहाहा..!

‘ऊपर ही ऊपर झलक मात्र दिखाई देता है। वहाँ...’ अब ऊपर ही ऊपर झलक मात्र दिखते हैं। चैतन्य स्वभाव विराजमान शुद्ध है। अब ‘वहाँ ज्ञानी स्वरूप के परीक्षक तो...’ धर्मी स्वरूप के परीक्षक तो ‘ऐसे ही जानता है।’ ऐसे ही जानता है मतलब शुद्धस्वरूप स्वच्छता से विराजमान भगवान है। विकारभाव तो ऊपर झलक मात्र है। उसके शुद्ध स्वरूप में इसकी एकता नहीं हुई। समझ में आया ? रागादि निजभाव नहीं है, चैतन्यगुण विराजमान है सो रागादि स्वरूप में प्रवेश किये बिना ऊपर झलकमात्र है ऐसा ज्ञानी स्वरूप के परीक्षक ऐसा जानते हैं। ऊपर जो कहा ऐसा ही जानते हैं। आहाहा..! यहाँ तो अभी शुभराग से आत्मा का कल्याण होता है। शुभराग से समकित होता है, क्षायिकसमकित वरना तो क्षायिक समकित आगे कहाँ जायेगा ? क्षपकक्षणी चढ़ेगा... क्योंकि नीचे शुद्धोपयोग नहीं है (ऐसा अज्ञानीलोग कहते हैं)। आहा..! यहाँ तो शुभराग झलकमात्र पर की है, ज्ञानी शुद्ध चैतन्य स्वभाव में विराजमान उसे चैतन्य जानते हैं। यह राग को तो पर जानते हैं, उसमें एकमेक नहीं जानता। आहाहा..! समझ में आया ?

‘किन्तु अपरीक्षक (अपारखी) पुरुषों को...’ अज्ञानी जीवों को ‘सत्यरूप अर्थात् वास्तव में वह आत्मा...’ देखो। ‘सत्यरूप अर्थात् वास्तव में वह आत्मा पुद्गल कर्मवत् रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है।’ पुद्गल कर्म की माफिक रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है। अज्ञानी को तो राग स्वरूप ही आत्मा भासित होता है। ‘सत्यरूप अर्थात् वास्तव में वह आत्मा... पुद्गल कर्मवत्

रागादि...’ वह तो पुद्गलकर्म जैसे हैं वैसे आत्मा उसे भासित होता है। ‘पुद्गलकर्मवत् रागादि स्वरूप ही प्रतिभासित होता है।’ पुद्गलकर्म है न ? ऐसा ही मानो आत्मा है। रागद्वेषयुक्त आत्मा है ऐसा अज्ञानी को भासित होता है। कहीये, समझ में आया ?

लाल मणि कहा था न ? दृष्टांत में तो लाल मणि लिया था न ? दूसरा लालमणि लिया था न ? यह तो स्वच्छ ही था किन्तु दूसरा लाल मणि लिया था न ? लालमणि की माफिक ऐसा कहा था न उसमें ? वैसे लाल मणि की तरह ये पुद्गल कर्म की माफिक। समझ में आया ? पुद्गल कर्म का ही यह कार्य ऐसा न मानकर वैसे पुद्गलकर्म स्वरूप ही आत्मा है ऐसा ही वह मानता है। पुद्गलकर्म से हुआ विकार, वही स्वरूप में हूँ, ऐसा ही स्वरूप मेरा है। समझ में आया ? इसलिये अब प्रश्न हुआ।

स्फटिक में लाल रंग वह पर के निमित्त की उपाधि क्षणिक ऊपर-ऊपर झलकती है। स्फटिक तो स्वच्छता मात्र विराजमान शोभित भिन्न है। अपरीक्षक को तो वह लाल रंग स्वरूप लाल मणि रंग स्वरूप पूरा स्फटिक प्रतिभासित होता है। परीक्षक को स्वच्छता से भिन्न लाल रंग है ऐसा भिन्न भासित होता है।

वैसे अज्ञानी को आत्मा का स्वच्छ भाव भासित न होकर कर्म के निमित्त से उत्पन्न उपाधिभाव, उस कर्मरूप ही आत्मा का भास होता है। वह कर्मरूप माने विकाररूप ही आत्मा भासित होता है। परीक्षक को उसकी ऊपर की झलक रहती है, स्वरूप में दाखिल नहीं हुई, शुद्ध स्वच्छमान चैतन्य में वह राग स्पर्श हुआ ही नहीं ऐसा परीक्षक नाम ज्ञानी को भिन्न भासित होता है।

तब एक प्रश्न हुआ, महाराज ! ‘आपने ही तो रागादिभावों को जीवकृत कहा था अब यहाँ उसे कर्मकृत कैसे कहते हो ? पहले आपने १२वें श्लोक में जीवकृत कहा, अब यहाँ फिर से कर्मकृत कहा। समझ में आया ? आया था न ? १२ वें में जीवकृत कहा, यहाँ १४ गाथा में कर्मकृत कहा। अभी तो एक गाथा गई कि आपको यह क्या हो गया ? इसकी व्याख्या करेंगे।



**श्री स्वानुभूतिदर्शन, प्रश्न ३७४ पर पूज्य भाईश्री
शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं. ४१८
(दि.३-६-१९९७)**

‘स्वानुभूतिदर्शन’ पन्ना-२०८, वचनामृत-३७४
‘जब आत्मा में अंतर्मुखता का प्रयोग करें
तब सर्व वस्तुओं का प्रकाशित करनेवाले दीपक
के उदाहरण से करें अथवा दर्पण में पड़नेवाले
प्रतिबिम्ब के उदाहरण से ? - वह प्रयोग किस
रीति से आत्मा में करे ?’

प्रश्नकार ने दो दृष्टांत लिये हैं। आत्मस्वरूप
को समझाने हेतु शास्त्र में अनेक दृष्टांत आते हैं।
समुद्र का, दर्पण का, दीये का, कमल का अग्नि
का, सूर्य का, चंद्र का इत्यादि आते हैं। अनेक
दृष्टांत आते हैं। दो दृष्टांत को पकड़कर प्रश्न
पूछा है कि, दीपक सर्व वस्तुओं को प्रकाशित करता
है जैसे आत्मा सब को जानता है जैसे लेना या
दर्पण में जैसे दूसरे पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं
जैसे खुद के ज्ञान में अन्य सब ज्ञेय प्रतिबिंबित
होते हैं ऐसे लेना ? कैसे करना अंतर्मुख का
प्रयोग ? इसप्रकार या उसप्रकार ? हालाँकि प्रश्न
ऐसे पूछना चाहिये कि किसप्रकार करना चाहिये ?
प्रकार भी खुद प्रश्नकार नक्की करके पूछता है
(ऐसे नहीं होना चाहिये)।

समाधान :- ‘अंतर प्रयोग करने में - मैं किस
प्रकार जानता हूँ ऐसा प्रयोग करने की अपेक्षा,
अपने अस्तित्व को ग्रहण करना अर्थात् ज्ञायक
की ओर दृष्टि करना ही प्रयोग है।’ क्या कहा ?
प्रश्नकार ने प्रश्न करने में भूल की है। मुझे ऐसे
प्रयोग करना या ऐसे करना ? तू जिसतरह प्रयोग
करता है जैसे तो प्रयोग है ही नहीं। मूल बात
ऐसी है। क्योंकि सर्व वस्तुओं को जानता है उसमें

भी दूसरी वस्तुओं को बीच में लिया। अंतर्मुख
होने में दूसरी वस्तु को बीच में नहीं ली जाती।

अंतर्मुख होने में अपने मूल अंतःतत्त्वस्वरूप
आत्मा को मुख्य करना है उसे ग्रहण करना है
इसके बजाय सर्व वस्तुओं को मैं जानता हूँ ऐसा
अगर बीच में लाये तो उसमें तो ज्ञान सर्व वस्तुओं
को जानने में गया, वह अंतर्मुख कहाँ से होगा ?
यानी कि वह प्रयोग तो उलटा है, सही नहीं है।
दर्पण में जैसे दूसरे पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं
इसमें भी दूसरे की ओर दूसरे पदार्थ के प्रतिबिंब की
बात ली है तो इसमें दो दूसरे कों बीच में ले
आये। फिर अंतर्मुख कहाँ से होगा ? कि नहीं
हो सकता। अतः मैं किसतरह दूसरे पदार्थ को
जानता हूँ, जैसे प्रयोग करने के बजाय, यानी कि
प्रयोग जैसे न करके अपने अस्तित्व को ग्रहण
करना। अपनी सत्ता को ग्रहण करना। अस्तित्व
को ग्रहण करना मतलब अपनी सत्ता को ग्रहण
करना चाहिये। स्वयं की हयाति अपनी मौजूदगी
उसे ग्रहण करना चाहिये।

यानी कि, अर्थात् ज्ञायक की ओर दृष्टि
करना ही प्रयोग है। अर्थात् अपने स्वरूप के प्रति
दृष्टि करना। दृष्टि करना मतलब अपने स्वरूप
को जानने का प्रयोजनमूल दृष्टिकोण उत्पन्न करना,
ऐसा कहना चाहते हैं। अपने स्वरूप को जानने
का जिसका प्रयोजन है ऐसा दृष्टिकोण साध्य करना
जैसे अंतर्मुख होने का प्रयोग करना।

अब अस्तित्व ग्रहण करना - इसे जरा विशेष
स्पष्ट करें। अस्तित्व अरूपी है। कैसा है आत्मा

का स्वरूप? अरूपी हयाती का धारक है। यानी वह दिखनेवाला नहीं है। पाँच इन्द्रिय व छठे मन के द्वारा जो ज्ञान प्रवृत्ति करता है वह बहिर्भावरूप, बहिर्मुख होकर प्रवृत्ति करता है। यानी बहिर्मुख उपयोग इसतरफ है, दूसरे से सन्मुख है जबकि आत्मा अंतःतत्त्वस्वरूप है उसमें उपयोग अंतर्मुख इसतरफ करने का है - स्वसन्मुख उपयोग करने का है। स्वसन्मुख उपयोग करने में ज्ञान अपना वेदन करता है, ज्ञान अपना अनुभव करता है। यानी कि अनुभव करनेवाला ज्ञान है और अनुभव में आनेवाला भी ज्ञान है। ज्ञान का एक ही पर्याय उसमें आत्मा अपने ज्ञान का अनुभव करता है और आत्मा को स्वयं को ज्ञान अनुभव में आने योग्य होने से अनुभव में आता है।

'समयसार' की २०६ गाथा ले तो 'उतना ही सत्य आत्मा है सत्य नाम जिनका विशेषण विशेषता सत्ता है वह। सत्य का अर्थ वैसा। जो सत्ता का धारक है वह सत्य है। उतना ही सत्य आत्मा है, उतना ही आत्मा का अस्तित्व है जितना यह ज्ञान है। और इतना ही सत्य आत्मा अनुभवनीय है, अनुभव करने योग्य है, अनुभवनीय है जितना यह ज्ञान है। जो वेदनरूप ज्ञान है वह स्वयं ही वेद्यवेदकभावरूप है। वेदक भी स्वयं और वैद्य भी स्वयं ही। जब वैद्यवेदकभाव से ज्ञान अनुभवगोचर हो तब जीव को स्वसन्मुखता में अपनी सत्ता का ग्रहण होता है। यह स्वसन्मुखता का प्रयोग है अर्थात् यह अंतर्मुखता का प्रयोग है। उसमें बीच में अन्य ज्ञेय को या अन्य पदार्थ को जानने का प्रश्न नहीं उठता।

मुमुक्षु :- यानी कि ज्ञान, ज्ञान का वेदन करे वह अस्तित्वग्रहण हुआ ?

पूज्य भाईश्री :- तब अस्तित्वग्रहण हुआ। अब यहाँ एक तर्क उठ सकता है। वह तर्क ऐसा होता है कि स्व-परप्रकाशक होनेसे, ज्ञान स्वपरप्रकाशक होने से अन्य ज्ञेयों का ज्ञान में प्रतिबिंब आना अनिवार्य है, इसका क्या करे ? ज्ञान के सामने

जो भी ज्ञेय आयेगा उसका प्रतिबिंब उठेगा। जैसे दर्पण के सामने जो भी पदार्थ आता है उसका प्रतिबिंब दर्पण में पड़ता है। वह जड़ दर्पण है। यह आत्मा चैतन्य दर्पण है। इसका क्या करना? अनिवार्यरूप से अन्य पदार्थ जानने में आये उसका क्या करना ? यह समस्या यहाँ सामने आती है। तो कहते हैं, गौण कर। और तू गौण करता भी है। रास्ते पर चलते हुए काफी Traffic आता जाता है। परन्तु तुझे जिस रास्ते जाना है उसी रास्ते तू देखता है, Traffic को देखने में रुक जाता है क्या ? सामने से मोटर आती है तो कोई उसका नंबरप्लेट देखने थोड़ी अटक जाता है ? कितने की पढ़ने जायेगा ? कितनी पढ़ पायेगा ?

मुमुक्षु :- प्रयोजन बिना तो उतना भी नहीं होता।

पूज्य भाईश्री :- मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मुझे तो मेरे रास्ते आगे चलना है, ऐसे में सामने कौन आया उसे जानने पर भी अनजाना कर देता है। इसकी आवाज़ सुनने पर भी अनसुनी करता है। करता है कि नहीं करता है ? कौन-सी मोटरने कौन-सा Horn लगाया इसका विचार करने रूकता है क्या ? कुछ नहीं। सुनने पर भी गौण कर देता है। गौण करना आता है। अतः भले ही दूसरे पदार्थ तेरे ज्ञान में प्रतिभासित होते हो परन्तु तू उसे गौण कर देना और वह जो तेरा ज्ञान अनुभव में आ रहा है उसे ज्ञानानुभव को मुख्य करना। इसीका नाम सामान्य का आविर्भाव और विशेष का तिरोभाव। पंद्रहवीं गाथा 'समयसार' की ऐसा कहती है। और वह विधि है। अंतर्मुख होने की वह विधि है। बारह अंग का सार यह है या जैसे बारह अंग का रहस्य भी यही है।

गणधरदेव ने भगवान की वाणी सुनने के पश्चात् बारह अंग की रचना की। मतलब क्या ? कि भगवान की वाणी में तो बहुत-सा विषय आया था। इसमें से Maximum grasping (ग्रहण) जिन्होंने

किया वे गणधरदेव। दूसरे की ताकत नहीं है कि इतना ग्रहण कर सके। और उसकी रचना हुई। जिसका बाहर में उन्होंने प्रकाशन किया बारह अंग के माध्यम से। केवलज्ञान में केवलज्ञानी अर्हत परमात्मा तीर्थकर सर्वज्ञ जितना जानते हैं इससे अनन्तवें अंश में दिव्यध्वनि में आता है। जितना दिव्यध्वनि में आता है इससे अनन्तवें भाग में गणधरदेव बारह अंग की रचना करते हैं उतना उनके उघाड में आता है। छद्मस्थ हैं न ? अतः उनका उघाड मर्यादित होता है। परन्तु वह उन्होंने Maximum expose (महत्तम अभिव्यक्ति) की है। उनसे अधिक कोई समझ नहीं सकता। गणधरदेव सर्व से अधिक समझते हैं। इन बारह अंग में कोई रहस्यभूत विषय है तो आत्मा को किसतरह अंतर्मुख होना वही है। यह रहस्य प्रयोगात्मकरूप से; क्योंकि परिणमन का विषय है, यह रहस्यका उकेल जिसने किया उसका कल्याण हो गया। अनन्तकाल में इस रहस्य का उकेल नहीं हो सका। बारह अंग में सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोई विषय है तो यही है।

मुमुक्षु :- भाईश्री ! यहाँ जो मुख्यता और गौणता करने की बात आती है इसमें मुख्यता करने में भी तारतम्यता होती है जिस पर वेदन आधारित होता है क्या ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अत्यंत गौण करो और अत्यन्त मुख्य करो, ज्यादा से ज्यादा तो इतना। अत्यंत गौण होने पर, परज्ञेय अत्यंत गौण होने पर उन ज्ञेयों का विच्छेद होता है और ज्ञान का उपयोग निर्विकल्प होता है। सविकल्प दशा में भी परज्ञेय गौण होते हैं फिर भी सविकल्पता रहती है और परिणति निर्विकल्प रहती है।

मुमुक्षु :- यानी यह तारतम्यता का भेद हो गया न ?

पूज्य भाईश्री :- ऐसे दो भेद इतने कर सकते हैं, ज्यादा से ज्यादा दो प्रकार-ज्ञान का सविकल्प परिणमन और निर्विकल्प ज्ञान का परिणमन, वैसे।

अतः जैसे ही निर्विकल्प हुआ कि उसने ज्ञेयाकार ज्ञान का सर्वथा विच्छेद किया। 'अमृतचंद्राचार्यने (समयसारजी की) पंद्रहवीं गाथा में आखिरकार 'ज्ञेयाकार ज्ञान का सर्वथा विच्छेद करके' ऐसा शब्द इस्तेमाल किया है। क्योंकि आत्मा पूरा ज्ञान का पिण्ड है, प्रदेश-प्रदेश में ज्ञान का पिण्ड है। जैसे नमक की डली को चारों तरफ से चखा जाये तो भी नमकीन नमकीन... नमकीन, उसका प्रत्येक कण नमकीन है। नमक की डली का एक कण लिया जाये तो भी, चाहे कहीं से भी लो वह नमकीन ही है। वैसे यह ज्ञान की डली, ज्ञान का पिण्ड वह सर्व तरफ से ज्ञान... ज्ञान.. ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ही उसमें है, ज्ञान ही भरा है। अतः ज्ञेयाकारों का विच्छेद करके वहाँ ज्ञानाकाररूप होता है। और ज्ञानाकाररूप ज्ञान हो वैसे जो पुरुषार्थ उसे निश्चय से ज्ञानाभ्यास कहते हैं। और ऐसे कथनों का अभ्यास होता है, वह शास्त्र है, ऐसा कहनेवाले शास्त्रवचन हैं, जो अनुभवी पुरुषों ने लिखे हैं, उसे व्यवहारज्ञानाभ्यास कहते हैं। ऐसे शास्त्र का अभ्यास वह व्यवहार ज्ञानाभ्यास और अपने ज्ञानस्वरूप का एकाकार अनुभव, ज्ञानाकाररूप अनुभव उसे निश्चय ज्ञानाभ्यास कहते हैं। ऐसा निश्चय ज्ञानाभ्यास करने की भगवान सर्वज्ञदेव की आज्ञा है, ऐसे लेना।

अपना अस्तित्व ग्रहण करना इसमें यह बात है। वेदन से ही हयाती मालूम पड़ती है। ज्ञानवेदन बिना खुद की हयाती मालूम नहीं पड़ती। दूसरे प्रकार से हयाती का पता नहीं चलता। हयाती ज्ञानवेदन से पता चलती है। यानी कि ज्ञायक के प्रति दृष्टि करना। अतः ज्ञायकस्वरूप को ग्रहण करने का दृष्टिकोण करना ही प्रयोग है।

'में दीपक जैसा हूँ या दर्पण जैसा - ऐसे विचारना कोई प्रयोग नहीं है...' देखो ! स्पष्ट ना दी है। वह प्रयोग ही नहीं है। क्योंकि दीपक अन्यपदार्थों को, सर्व पदार्थों को, सर्व वस्तुओं को

प्रकाशित करता है और दर्पण अन्य पदार्थ का प्रतिबिंब अवधारण करता है। वह प्रयोग तो इसलिये नहीं है क्योंकि इसमें बीच में दूसरे आये। यहाँ बीच में दूसरे आये उसे निकालने की बात है। दूसरे को बीच में लाने की बात नहीं है, उसे निकालने की बात है। इसलिये वह प्रयोग नहीं है।

हालाँकि प्रश्नकार को अपनी बात Confirm करने का प्रश्न नहीं उठाना चाहिये। ऐसा होता है न ! वैसा होता है न ! - इसतरह नहीं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि आप मेरी बात को Confirm करो। यह प्रश्न करने की पद्धति जिज्ञासुयुक्त नहीं है। इसमें तो 'मैं समझता हूँ यह मेरा ठीक है कि नहीं उसका Confirmation लेना है, इसे Confirmative question कहते हैं। ऐसी प्रश्न करने की पद्धति सही पद्धति नहीं है। मेरी ऐसी जिज्ञासा है और इस जिज्ञासा के बारे में समझाईये, मेरी जिज्ञासा की पूर्ति हेतु स्पष्टता दीजिये, इसतरह प्रश्नकार को जिज्ञासा में खड़े रहना चाहिये। अपनी समझ के Confirmation में नहीं जाना चाहिये।

मुमुक्षु :- ज्ञानी पकड़ लेते हैं कि ये जो आपने बात कही उसमें प्रयोग इसतरह करना।

पूज्य भाईश्री :- मैं ऐसे प्रयोग करता हूँ जो उचित है ? तो नहीं है ऐसा कहना पड़े। देखो ! क्या कहा ?

'मैं दीपक जैसा हूँ या दर्पण जैसा - ऐसे विचारना कोई प्रयोग नहीं है, वह तो जानने की एक रीति है।' परसन्मुख होकर जानने की रीत है और अंतर्मुख होने में तो स्वसन्मुख होने का है। वैसे यहाँ काम नहीं आयेगा। जिसको अंतर्मुख होने की रीत या विधि समझ में न आई हो, प्रयोगात्मकरूप से, हूँ ! विचारात्मकरूप से नहीं, प्रयोगात्मकरूप से समझ में न आई हो वह जीव ध्यान करने के लिये अधिकारी नहीं है। क्योंकि वह कैसे ध्यान करेगा ? अंतर्मुख कैसे होना वह

जानता नहीं। वह ध्यान करेगा कैसे ? वह तो ध्यान को समझ भी नहीं सकेगा। वह आत्मा के अंतर्मुखी ध्यान को समझ भी नहीं सकेगा।

जिनेन्द्रदर्शन, जो जिनमंदिर में किये जाते हैं वहाँ उनके अंतर्मुखी ध्यान को देखने का अवसर, प्रसंग है। परन्तु अंतर्मुखता को समझेगा तभी तो देख सकेगा न ! इसीका पता न हो तो क्या लेगा ? रूढ़ि की तरह 'जय नारायण' करके निकल जायेगा। इससे ज्यादा तो कुछ समझ सकेगा नहीं। सिर फोड़कर (झुकाकर) निकल जायेगा बाहर। इससे कोई फायदा नहीं है, बिलकुल लाभ नहीं है।

मुमुक्षु :- वह सब ओघसंज्ञा से हैं।

पूज्य भाईश्री :- सब ओघसंज्ञा से चलता है। 'जिन सोहि आत्मा' जैसे जिनेन्द्र हैं वैसा ही आत्मा है। तो वहाँ जिनेन्द्रदर्शन में स्वरूपदर्शन है। स्वरूप को स्वयं जानना चाहिये। कैसा स्वरूप है ? कि परिपूर्ण अंतर्मुखी जिसका स्वभाव है वैसा स्वरूप है। और जिनेन्द्र परमात्मा ने उसे Expose (प्रगट) किया है। क्योंकि उन्हें निरवशेष अंतर्मुख ध्यान वर्तता है। अतः वहाँ से इसकी समझ आती है। परन्तु वैसा दृष्टिकोण साध्य किया हो उसको, सब को नहीं समझ में आता।

मुमुक्षु :- जिनेन्द्र भगवान ने उसे Expose किया है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ। fully, fully expose किया है। यानी कि निरवशेष अंतर्मुख ध्यान वर्तता है। साधक को अंशतः अंतर्मुख ध्यान वर्तता है, परिपूर्ण नहीं। और केवली भगवान को तो जैसा अंतर्मुखी परिपूर्ण स्वभाव है उतना परिपूर्ण स्वभाव प्रगट हुआ है, उन्होंने स्वभाव पूर्णरूप से प्रगट किया है। ऐसी बात है। यह देखने का तब अवसर है। ऐसे प्रसंग का कतई विरोध या निषेध नहीं करना चाहिये।

स्थानवासियों ने निषेध किया तो 'कृपालुदेव' ने बहुत कड़े शब्दों में उस पर प्रहार किया है। वैसे तो 'कृपालुदेव' बहुत मृदुभाषी थे, मधुरभाषी

थे परन्तु स्थानकवासी पर थोड़े गरम होकर बात की है कि यह संप्रदाय को शुरू हुए ५०० साल हुए। कितने ? पाँचसौ साल। पाँच-सौ साल में एक भी बुद्धिवान नहीं निकला। ऐसा लिखा कि जिसने आगम की रचना की हो। संप्रदाय में उनके स्वतंत्र आगम नहीं है। देरावासी के ४५में से ३३ उठाये उन्होंने और कह दिया कि ये ३३ हमारे अन्य को हम नहीं मानते।

मुमुक्षु :- ४५में से ३३ लिये।

पूज्य भाईश्री :- ३३ लिये। इतना ही नहीं उसे फिर भगवान की वाणी के रूप में स्वीकार किया। भगवान की वाणी के टुकड़े किये कि इतनी हमें मान्य, इतनी अमान्य ! यह तो बड़ी स्थूल भूल हुई है।

ध्यान का कारण ऐसी जो जिनप्रतिमा ! क्या लिखा ? ध्यान का कारण ऐसी जो जिनप्रतिमा उसका निषेध किया है जो कि कतई करने योग्य नहीं है। बहुत साफ शब्दों में लिख दिया है। और इसलिये इतनी स्पष्टता करता हूँ क्योंकि मेरी गिनती उस संप्रदाय में की जाती है। जन्म हुआ है, कुलधर्म।

मुमुक्षु :- वे स्थानकवासी थें ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, उनके मातुश्री स्थानकवासी थे। इसीलिये स्पष्टता की है कि मुझे यह अभिप्राय सहमत नहीं है। इन लोगों के साथ मैं अभिप्राय से सहमत नहीं हूँ क्योंकि स्थापना निक्षेप है। वह नयज्ञान का विषय है। नय का विषय वह निक्षेप। नय का विषय सो निक्षेप। और नय सम्यग्ज्ञानियों को होता है। सम्यक् श्रुतप्रमाण के अंश को नय कहते हैं। उसमें सम्यक्ज्ञान का निषेध हो गया। निक्षेप का निषेध किया तो सम्यग्ज्ञान का भी निषेध हो गया। सम्यग्ज्ञान का निषेध करोगे तो आत्मा के स्वभाव का व आत्मस्वरूप का निषेध हो गया। खुद की ही विराधना हुई। ऐसा हुआ। अतः बहुत कठोर शब्दों में इसकी आलोचना की है।

‘मैं दीपक जैसा हूँ या दर्पण जैसा - ऐसे

विचारना कोई प्रयोग नहीं है वह तो जानने की एक रीति है। मैं कैसे जानता हूँ ? दीपक की भाँति या दर्पण की भाँति ? सो जानने की बात है।’ यानी कि पर को जानने की बात है। इसमें आत्मा को जानने की बात कहीं भी नहीं आयी। ‘जानने की परिणति जैसी होती है वैसी होती है;...’ वह तो जैसे होती है वैसे ही होती है। ‘स्वयं अपने ज्ञायक का अस्तित्व ग्रहण करना वह प्रयोग करनेका है।’ वेदन द्वारा अस्तित्व का ग्रहण करना सो प्रयोग है। इसमें जानने की बात नहीं है अपितु अस्तित्व ग्रहण करने की बात है।

जानना एक बात है, ग्रहण करना एक दूसरी बात है। दो बात एक नहीं हैं। वह कैसे ? कि ‘यह शरीर मेरा है,’ तब उसमें हमने शरीर को सिर्फ जाना या शरीर को ग्रहण किया है ? कि, स्वरूप में ग्रहण किया है। पर को पर के रूप में जानता है किन्तु ग्रहण नहीं करता। जबकि स्व को स्व के रूप में जानते हुए जीव स्व को ग्रहण करता है। ऐसी सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति है। पर को पर के रूप में जानना वह सम्यक् है। स्व को स्व के रूप में जानते हुए स्वरूप का ग्रहण होना वह सम्यक् है। सम्यक्त्व के Article में यह लिया है। बहुत से पहलू से सम्यक्त्व पर प्रकाश डाला है। सम्यक्त्व बहुत सूक्ष्म है। ‘सम्यक्त्वम् अतिसूक्ष्मम्’ ‘पंचाध्यायी’ का श्लोक रखा है सम्यक्त्वम् अतिसूक्ष्मम्।

मुमुक्षु :- प्रथम Article में ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, पहले आधा आया न ! आधा बाकी है जो दूसरे अंक में आयेगा।

‘प्रयोग स्वयं को करने का है कि मैं यह चैतन्य हूँ।’ यह माने प्रत्यक्ष। मैं यह प्रत्यक्षरूप से, प्रगटरूप से चैतन्य हूँ ऐसा परिणमन में अपनेआप को ग्रहण करके प्रयोग करना है। ‘और यह विभाव मैं नहीं’ उसका निषेध करना है। विभाव मालूम होगा तुझे, राग हुआ तुझे पता चलेगा,

विकल्प हुआ तुझे पता चलेगा परन्तु उसका निषेध करना है मैं ऐसा नहीं हूँ, मैं ऐसा नहीं हूँ।

‘यह विभावपरिणति मेरा स्वभाव नहीं है,... यह मेरा स्वरूप नहीं है। **‘मैं विभावस्वरूप नहीं हूँ, किन्तु मैं एक ज्ञायक हूँ - ऐसे अस्तित्व-ग्रहण का प्रयोग करना।’** यह प्रयोग प्रथम सफल हो तब भावभासन होता है और तब से जीव स्वरूपसन्मुख होकर परिणमित होता है। और इस अभ्यास के फलस्वरूप उसे निर्विकल्प शुद्धोपयोग में परमार्थ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। **‘यह विभावपरिणति मेरा स्वभाव नहीं, मैं विभावस्वरूप नहीं हूँ - किन्तु मैं एक ज्ञायक हूँ।’** ज्ञायक हूँ मतलब जाननेवाला हूँ परन्तु पर को जाननेवाला हूँ ऐसे यहाँ मुख्य नहीं करना है। इसलिये १७-१८ गाथा में आत्मा को अनुभूतिस्वरूप लिया है। यह अनुभूतिस्वरूप भगवानआत्मा आबाल-गोपाल को निरंतर अनुभव में, सदा ही अनुभव में आ रहा है।

जो ज्ञान की पर्याय है न ? इसके दो मुख्य धर्म हैं। गौणरूप से देखा जाये तो अनेक धर्म हैं। वैसा ‘तत्त्वानुशीलन’ में ज्ञान के प्रकरण में लिया है। ४५ धर्म लिये हैं। यह स्पष्टरूप से जो करने जैसी बात है वह इतनी है कि ज्ञान के मुख्य दो धर्म। धर्म कहो या कार्य कहो। इन कार्यो में जो जानना होता है उसे अस्तित्व ग्रहण करने में मुख्य नहीं करना है परन्तु वेदन जो होता है, ज्ञान में अनुभव होता है उसे मुख्य करना, तब अस्तित्व ग्रहण होगा, तब अंतर्मुखता होगी, स्वरूपसन्मुखता होगी, वरना नहीं होगी।

मुमुक्षु :- वेदन होता है, अनुभवन होता है वह किसतरह ?

पूज्य भाईश्री :- आपको आम का मीठापन अनुभव से समझ में आया या जानने से समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अनुभव से।

पूज्य भाईश्री :- वहाँ आपने अनुभव कैसे

किया ? आप अनुभव तो कर ही रहे हो। ठण्ड का अनुभव होता है, गर्मी के मौसम में गर्मी का अनुभव होता है, अनेक प्रकार के स्वाद का अनुभव होता है। यानी अनुभव तो आप कर ही रहे हो।

मुमुक्षु :- वह इन्द्रियों के द्वारा (होता है)।

पूज्य भाईश्री :- ठीक है। मान लिया। लेकिन अनुभव तो करते ही हो। अब वह क्या है ? अब अतीन्द्रिय पर आये कि ऐसे अनेक प्रकार के अनुभव तो अनुभवविशेष है। इस पर से अनुभवसामान्य को पकड़ो। Common Factor विशेष को गौण करके सामान्य को पकड़ो। गणित में लघुतम-सामान्य नहीं आता ? ३, ६, ९, १२, १५, १८, २१, २४, २७ और ३० इसमें लघुतम सामान्य ३ है। ठीक है ? तो सभी अंकों को बाद करके आपने ३ को पकड़ा की नहीं पकड़ा ? वैसे आप सभी अनुभवमें से अनुभवविशेषों को बाद करके अनुभवसामान्य को पकड़ेंगे तो आपको अनुभव क्या है वह समझ में आयेगा। क्योंकि अनुभव का विषय अनुभव से समझ में आयेगा। अनुभव का विषय विचार से समझ में नहीं आ सकता। अतः अनुभव को समझने के लिये विचारों को खींचते जाना यह सही पद्धति नहीं है। अनुभव को समझने के लिये आपको अनुभव को ही समझना। अनुभवपद्धति से अनुभव को समझना होगा। यह एक ही इसकी सच्ची रीत है।

इसलिये ज्ञानियों ने कहा कि देख भाई ! तू अनुभव तो कर ही रहा है। परन्तु वह सब इन्द्रियज्ञान के माध्यम से परपदार्थ का अनुभव तुम कर रहे हो यह तेरा अध्यास है। अध्यास माने मिथ्याज्ञान या आभास। वस्तुतः कोई परपदार्थ का अनुभव नहीं कर सकता। यह वस्तुस्थिति है। जो ज्ञान अनुभव कर रहा है वह तो अपने ज्ञान का ही अनुभव कर रहा है निरंतर आबाल-गोपाल को अनुभूतिस्वरूप भगवानआत्मा ही अनुभव में आ रहा है। परन्तु... ऐसा है। पर के एकत्व के अध्यास के कारण यह बात समझ में नहीं आती है, ख्याल

में नहीं आती या मालूम नहीं होती है। अतः यह एक गुथी है। यह गुथी अभी कायम है।

इसलिये ऐसा कहा कि, तू परपदार्थ के प्रति परिणाम में तुझे रस आता है उस रस को ठण्डा कर। क्योंकि उसमें अध्यास बहुत ही प्रगाढ़ है। इस अध्यास को तू ठण्डा कर, रस को फ्रीका कर। मुमुक्षु की भूमिका में वैराग्य का बोध क्यों दिया है ? क्यों लिया है ? क्योंकि तब ही ज्ञान ज्ञानवेदन को ग्रहण करने के लिये सक्षम होगा, योग्य होगा, वरना नहीं होगा।

'मैं किस तरह जानता हूँ - वह जानना सो कोई प्रयोग करने की वस्तु नहीं है !' ऐसे प्रयोग करना है ही नहीं। स्पष्ट बात है। क्योंकि यहाँ अनुभव करने की बात है। जानने की बात तू बीच में लाया कहाँ से ? यह बात छोड़ दे। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- गलत उपाय।

पूज्य भाईश्री :- वह गलत उपाय है। **'वह कोई प्रयोग करने की वस्तु नहीं है, जानने की वस्तु है।'** प्रयोग तो अनुभव का है। अंतर्मुख प्रयोग तो अनुभव का प्रयोग है। यह तो जानने की वस्तु हुई। **'प्रयोग तो मैं एक ज्ञायक हूँ - वह करने का है।'** यानी कि जैसे अनुभव करने का प्रयोग करना है।

एक प्रश्न हम उठाये कि स्वानुभव है, खुद का जो अनुभव है वह क्या करते-करते हो ? क्या करते-करते हो ? विचार करते-करते हो ? चिंतन करते-करते हो ? मनन करते-करते हो ? क्या करते-करते हो ? तो कहते हैं, जैसे एक भी प्रकार से नहीं हो सकता। विचार, चिंतन, मनन इससे अनुभव नहीं हो सकता। तो कहते हैं फिर कैसे हो ? अनुभव का प्रयत्न करते-करते अनुभव होता है। अनुभव करने के लिये अनुभव का प्रयत्न चाहिये, दूसरे प्रकार का प्रयत्न नहीं चलता। और इसीलिये हमने जो Method chockout की है उसमें शुरू में वेदना से चलकर वेदन की पद्धति ली है।

प्रथम चरण ही वेदन का है। वह अनुभव पद्धति है, विचारपद्धति नहीं है। वेदन है वह विचारपद्धति में नहीं आता, वेदन अनुभव पद्धति में आता है। और अनुभव, स्वानुभव करने के लिये अनुभव पद्धति चाहिये, विचारपद्धति पर्याप्त नहीं है, Perfect नहीं है। वह कुछएक Outline समझाने के लिये Imperfect बात है, perfect नहीं है। कुछ एक Outline इससे मिलती है जबकि यहाँ थोड़ी Underline पकड़ने की जरूरत है, Outline से काम नहीं चलता।

मुमुक्षु :- 'कृपालुदेव'ने ऐसा कहा कि कर विचार तो पाम, शुद्ध चैतन्यघन में।

पूज्य भाईश्री :- इसमें ऐसा है कि कुछलोग विचार नहीं करते हैं उनको विचार कर ऐसा कहते हैं। आप अगर स्वाध्याय में नहीं आते हो तो क्या कहेंगे ? आप स्वाध्याय में नहीं आते ? स्वाध्याय में तो आना चाहिये न ! परन्तु आप अगर स्वाध्याय में Regular आते हो तो क्या कहेंगे ? ऐसे सिर्फ स्वाध्याय में आने मात्र से नहीं चलेगा, भीतर में पुरुषार्थ करना पड़ेगा। उसे ऐसा कहना पड़े। वैसे जो विचार नहीं करता हो उसे कहते हैं कि, तू विचार कर तो प्राप्ति होगी। परन्तु जो विचार करके अटक जाये उसे कहते हैं कि, तू अनुभव कर तो प्राप्ति होगी।

भिन्न-भिन्न योग्यता में भिन्न-भिन्न उपदेश है। योग्यता विभिन्न तो उपदेश भी विभिन्न। मांस खानेवाले को ऐसा कहेंगे कि हरी सब्जी में कितनी item है, variety है, उसे खाओ न। अनेक प्रकार के नमकीन हैं उसे खाओ न ! उसमें क्या नमक-मीर्चि डालकर खा रहे हो ? इसको छोककर क्या खाते हो ? परन्तु जो हरि सब्जी खाता हो उसे कहेंगे कि देख भाई ! जमीनकंद मत खाना। Variety बहुत सी हैं लेकिन इसमें से जमीनकंद को तुम छोड़ देना, जमीनकंद मत खाना। जमीनकंद नहीं खाता हो उसे कहेंगे हरी सब्जी मत खाना। ठीक ! ऐसा है। ऐसे भिन्न-भिन्न stage

में भिन्न-भिन्न उपदेश है।

‘प्रयोग तो मैं एक ज्ञायक हूँ - वह करने का है।’ ज्ञायक हूँ ऐसा अनुभव का प्रयोग करने का है, पुरुषार्थ करने का है, अभ्यास करना है। **‘स्वयं कहीं बाहर जानने नहीं जाता।’**

मुमुक्षु :- ‘बहिनश्री के वचनामृत’ में एक यह मैं ज्ञायक हूँ ऐसा ध्वनि, एक symbol हो गया। ऐसा ध्वनि कई जगह उठता है। इसका आंतरध्वनि ही एक ज्ञायक हूँ इस पर जोर है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, इसमें क्या है कि यह बात ‘गुरुदेवश्री’ ने बहुत मुख्यरूप से की और इसका मर्म उन्होंने पकड़ा। उनका मर्म इन्होंने पकड़ा है। इन्हीं शब्दों से उन्होंने अनुभव तक की बात पकड़ ली है। मैं ज्ञायक हूँ इसमें से अनुभव तक वे पहुँचे हैं। अतः वह बात तो आयेगी ही न ! ‘गुरुदेवश्री’ के प्रवचन में ज्ञायक की बात बहुत आती है। और इसलिये हमारे मुमुक्षुओं में भी ज्ञायक की चर्चा बहुत चलती है। वे तो अनुभव तक पहुँचे हैं।

मुमुक्षु :- ज्ञायक हूँ यह ध्वनि उनके अनुभव की Line है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ। ज्ञायक का अनुभव किया है।

‘स्वयं कहीं बाहर जानने नहीं जाता और अन्य में एकत्व भी नहीं होता, एकत्वबुद्धि स्वयं कर रहा है।’ यानी अभिप्राय गलत है। बुद्धि नाम अभिप्राय। आत्मामें से बाहर निकलकर कहीं नहीं जाता। क्षेत्र अपेक्षा से। दूसरे में एकमेक भी नहीं होता। एकत्व नाम एकमेक भी नहीं होता ! ज्ञान तो भिन्न ही रहता है। फिर भी अभिप्राय में दूसरे को स्वयं में मिला देता है कि मुझे कटु लगा। तुझे कटुता जानने में आयी है। आत्मा में अगर कटुता लगेगी जब तो ज्ञान हमेशा के लिये कटु हो जाये। परन्तु ज्ञान कडुआ नहीं होता। आत्मा को गर्मी लगे तो ज्ञान को temperature आये, परन्तु

ज्ञान को temperature नहीं आता। ज्ञान temperature को जानता है। ऐसा है। जानना दूसरी बात है और लगना दूसरी बात है। परन्तु अध्यास में ऐसा होता है कि मुझे लगता है। सो मिथ्या है। एकत्वबुद्धि स्वयं कर रहा है।

‘स्वयं अन्य द्रव्यरूप नहीं होता।’ दूसरे पदार्थरूप स्वयं हो नहीं जाता कभी, हो सकता भी नहीं। **‘परन्तु एकत्व मान रहा है।’** स्वयं ने एकत्व मान रखा है, जान रहा है। यहाँ इसका जानना और मानना दोनों मिथ्या हैं। झूठ है। वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। **‘वह अपनी भूल है।’** वह है अपनी खुद की भूल। **‘इसलिये मैं तो अन्य द्रव्यों से भिन्न एक ज्ञायक हूँ - ऐसे ग्रहण करने का है।’** मैं ज्ञायक हूँ ऐसा अनुभव से ग्रहण करने का है। किससे ? अनुभव से जानने में ग्रहण नहीं होता। ग्रहण करना सो दूसरी बात है और जानना सो दूसरी बात है। ग्रहण करने में अपनेरूप में अनुभव में आता है। उसका नाम ग्रहण करना है।

फिरसे, जो अपनेरूप में अनुभव में आया उसका नाम खुद ने ज्ञायक को ग्रहण किया ऐसा है। परन्तु आत्मा जाननेवाला है.. जाननेवाला है... जाननेवाला है... ऐसा जानने का मतलब कोई आत्मा का, ज्ञायक को ग्रहण किया सो बात नहीं है। ऐसा है।

‘अपनी ज्ञान-परिणति मानो कोई काम नहीं करती और प्रतिबिम्ब बलात् आकर अंतर में पड़ता है, ऐसा कुछ नहीं है।’ इसमें कहना क्या है ? कि ज्ञान परिणति जो काम करती है उसमें ज्ञान की शक्ति काम करती है, तब जानने में आता है। ज्ञान का स्वभाव काम करता है उसमें जानने में आता है। कोई चीज़ जबरदस्ती प्रतिबिम्ब नहीं उठाती है। उसे तो पता भी नहीं है कि मेरा प्रतिबिम्ब किसके ज्ञान में कितना उठता है। पता है ? हमें पचीस लोग देख रहे हैं या हजार लोग देख रहे हैं इसका हमें पता होता है क्या ? कि

कौन देख रहा है ? कुछ नहीं। अतः हम जबरदस्ती किसी के ज्ञान में प्रतिबिंब उठाते हैं ऐसा तो है नहीं। ऐसे किसी भी पदार्थ का नहीं है। जो किसी के ज्ञान में जानने में आता है वह उसकी अपनी शक्ति के कारण जानने में आता है। तू जानता है तो इसमें तू अपनी स्वभाव-शक्ति को देख। जानने में क्या देखना है तुझे ? कि जानने के स्वभाव को और जानने की शक्ति को तू देख। किसे जान रहा है उसे मत देख। क्योंकि विशेष को गौण करना है।

फिरसे, थोड़ी Practical side लेनी है इसमें। कि, तू जान रहा है ? कि, हाँ, मैं जान रहा हूँ। ठीक ? तो तू क्या जानता है इसे देखने के बजाय तेरी शक्ति से तू जान रहा है ऐसा तेरे ज्ञान में तू अपने आपको देख न ! तेरी शक्ति और स्वभाव को देख न ! मेरे में जानने की शक्ति है सो मैं जानता हूँ। वह मेरा स्वभाव है। यानी कि ज्ञान को स्वभावदृष्टि से देखना है। (कोई) कहेगा स्वभावदृष्टि से देखने पर ज्ञानस्वभाव दिखे नहीं तब तक क्या करना ? आपने तो कहा कि, ज्ञान को स्वभावदृष्टि से देखो। Accept लेकिन अब ऐसा देखने के प्रयत्न में हमें स्वभाव नहीं दिखता है इसका क्या करे ? तो कहते हैं, ज्ञान में ज्ञानस्वभाव प्रगट है, परिणमन हुआ न ? तो उसे देखने की जिज्ञासा कर। नहीं दिखे तब तक उसे देखने की जिज्ञासा कर। नहीं दिखे वहाँतक उसे देखने की जिज्ञासा कर कि यह ज्ञानस्वभाव ज्ञान में प्रगट है, ऐसे मेरे गुरु मुझे कहते हैं फिर भी मुझे क्यों दिखता नहीं है ? मेरा उसे देखने का, जानने का यथायोग्य प्रयत्न नहीं है। यथायोग्य जानने की मेरी योग्यता नहीं है ऐसा कुछ है, तो मुझे इसे जानने के लिये जिज्ञासा उत्पन्न करके योग्यता प्रगट करनी चाहिये।

जिज्ञासा तत्काल योग्यता को प्रगट करती है। इसका अन्य कोई Process नहीं है। जिज्ञासा

योग्यता को प्रगट करती है। इन लोगों में वेदांत में भी स्थानकवासी से ज्यादा विचारक कई महात्माएँ हो गये। उसमें जो 'आद्य शंकराचार्य' हुए, आत्मा को वे लोग ब्रह्म कहते हैं। परमब्रह्म ब्रह्म ऐसा कहते हैं। और वेदांत है सो आत्मा को समझने के लिये उसमें सुत्रादि हैं वेदांत में। वेदांत माने अठारह उपनिषद हैं। वेदों का अंतिम भाग को वेदांत कहते हैं। उसमें अठारह उपनिषदों की उन्होंने रचना की है। तो कहते हैं कि आत्मा को जानना हो तो प्रथम आत्मा की जिज्ञासा कर। उन्होंने इस वेदांत पर स्वयं ने टीका की है। उस टीका को उन लोगों की शास्त्र परिभाषा में भास्य कहते हैं। आत्मा का जो सूत्र है उसे ब्रह्मसूत्र कहते हैं। वह ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्यने जो भास्य किया, वे बहुत उघाडवाले थे। उसे शांकरभास्य कहते हैं। 'ब्रह्मसूत्र शांकरभास्य' इतना बड़ा संस्कृत में volume है। किसमें ? संस्कृत में। संस्कृत के पारंगत वे लोग सब। संस्कृत में ही सारी बातें करते हैं वे लोग। इकट्टे होवे तो कैसे हैं आप, हमलोग कहते हैं ? 'किम भवान ?' ऐसा कहेंगे। कैसे हो ? किम भवान ?

वे लोग आत्मा की जिज्ञासा पर सीधे ले गये कि, आत्मा को जानना हो तो आत्मा की जिज्ञासा चाहिये। तब प्रथम वाक्य उन्होंने ऐसा लिखा 'अथा सौ ब्रह्मजिज्ञासा' सर्वप्रथम ब्रह्म की जिज्ञासा होनी चाहिये। इस ब्रह्म जिज्ञासा पर उन्होंने कितना लंबा प्रकरण लिखा है। अथ माने क्या ? सौ माने क्या ? ब्रह्म माने क्या ? जिज्ञासा माने क्या ? इसपर विवेचन... विवेचन... विवेचन... आपको उघाड देखकर ऐसा लगे जैसे गजब का उघाड़ है इनका तो ! इतना लंबा विवेचन संस्कृत में किया है।

मुमुक्षु :- उन्हें खुद को इतनी जिज्ञासा थी क्या ?

पूज्य भाईश्री :- जिज्ञासा थी कि नहीं यह

बाद की बात है परन्तु जिज्ञासा पर उनकी विचारशक्ति बहुत थी यह तो प्रदर्शित जरूर होती है। सबसे बड़ी भूल कहाँ की अन्यमतियों ने ? कि जैन शास्त्र पढ़ने के पश्चात् भी, जैनशास्त्र उन लोगों ने पढ़े, 'शंकराचार्य' ने भी पढ़े परन्तु बुद्धि निर्मल नहीं थी इसलिये उन्होंने कहा कि यह तो स्यादवाद से लिखी गई बात है। जिनागम है सो स्यादवाद से विवेचित है और स्यादवाद है सो संशयवाद है। जिसमें कहीं भी वस्तु के स्वरूप को कोई खूटे से नहीं बाँधा है। वस्तु के स्वरूप का कोई ठिकाना ही नहीं है इसमें। क्यों ? कि जैन लोग विरुद्ध बातें बहुत करते हैं। आत्मा नित्य भी है और आत्मा अनित्य भी है। आत्मा शुद्ध भी है और आत्मा अशुद्ध भी है आत्मा एक भी है और आत्मा अनेक भी है। एक हो वह अनेक कैसे हो सकता है ? ये लोग वस्तु का निर्णय ही ठीक से करते नहीं हैं। कभी उधर की बात करेंगे तो कभी उधर की बात करेंगे कभी विरुद्ध बात करते हैं। इसके लिये ऐसा statement दिया। मतलब कि उन लोगों ने वीतराग सर्वज्ञ को परमेश्वर के रूप में परम ऐश्वर्य को प्राप्त हुए

हैं यह बात स्वीकार नहीं की। यह बड़ी भूल हो गई।

धर्म का मूल ही सर्वज्ञ है। धर्म का मूल सर्वज्ञ है। जिसको सर्वज्ञ का स्वरूप समझ में नहीं आता उसे धर्म का स्वरूप समझ में नहीं आता। और जिसको भी धर्म का प्रतिपादन करना हो उसे सर्वज्ञता से धर्म को प्रतिपादित करना। यह 'कृपालुदेव' ने आज्ञा की है। 'धर्म सर्वज्ञता से प्रतिपादित करना' वहाँ वे लोग भूल खा गये, मतलब मूल में भूल खा गये। फिर तो एक उलटे घड़े पर सारे घड़े उलटे ही जमा होते हैं। ऐसा हुआ है।

(यहाँ) क्या कहते हैं ? अपनी ज्ञानपरिणति जैसे कुछ काम ही नहीं करती है और प्रतिबिम्ब बलात् ज्ञान में झलकता है ऐसा नहीं है। ज्ञानपरिणति ज्ञान शक्ति से काम करती है। तू शक्ति और स्वभाव को देख और उसे देखने की जिज्ञासा कर तो तुझे अवश्य, अवश्य तेरा स्वभाव मालूम होगा। ज्ञानपरिणति स्वयं की है। स्वयं परिणमन कर रहा है। स्वयं कूटस्थ है ऐसा इसका मतलब नहीं है। यहाँ से समझना। सीधा ऐसे समझे बिना कूटस्थ-कूटस्थ ध्रुव पर चले जाने से कोई पता नहीं लग जाता। यहाँ तक रखते हैं।

(श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक)

कहीं भी दिखायी नहीं देता। केवल सर्व प्रकार की उसमें से अप्रतिबद्धता ही योग्य है, तथापि निवृत्तिकेन्द्र और निवृत्तिकाल, सत्संग और आत्मविचार में हमें प्रतिबद्ध रुचि रहती है। वह योग किसी प्रकारसे भी यथासंभव थोड़े काल में हो, इसी चिंतन में अहोरात्र रहते हैं।

आपके समागम की अभी विशेष इच्छा रहती है, तथापि उसके लिये किसी प्रसंग के बिना योग न करना, ऐसा रखना पड़ा है और उसके लिये बहुत विक्षेप रहता है।

आपको भी उपाधियोग रहता है। उसका विकटता से वेदन किया जाये, ऐसा है, तथापि मौनरूपसे, समता से उसका वेदन करना, ऐसा निश्चय रखें। उस कर्म का वेदन करने से अंतराय का बल कम होगा।

क्या लिखें ? और क्या कहें ? एक आत्मवार्ता में ही जिसका अविच्छिन्न काल बीतता है, ऐसे आप जैसे पुरुष के सत्संग के हम दास है। अत्यंत नम्रता से हमारा चरण प्रत्ययी नमस्कार स्वीकार कीजिये। यही विनती।

दासानुदास रायचंद के प्रणाम पढ़ियेगा।

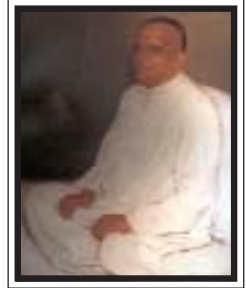
द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.२७-७-१९९१

अब (इस पैराग्राफसे) तत्त्वका विषय लेते हैं। 'जिस आत्मद्रव्यमें परिणाम मात्रका अभाव है...' मूलमें तो (स्वयं जिस प्रकारसे) जम गये हैं वह इसी तरह जम गये हैं। क्या (लिखते हैं) ? 'जिस आत्मद्रव्यमें परिणाम मात्रका अभाव है,...' भावना, साधना सब इसमें आ गया। 'जिस आत्मद्रव्यमें परिणाम मात्रका अभाव है उसमें जम गया हूँ।' यह उन्होंने स्थिति लिखी है कि, उसमें जम गया हूँ। ये तीन सालमें इसमें जमावट की है (कि) जिसमें परिणाममात्रका अभाव है। साधना होती है उसका ज्ञान करता हूँ; भावना आती है उसका ज्ञान करता हूँ, दूसरे परिणाम होते हैं इसका ज्ञान करता हूँ। (बाकी मैं तो) यहाँ ही जम गया हूँ।

'परिणमन सहज, जैसा होता है, होने दो;...' जैसा परिणमन सहज चले उसे होने दो, मैं यहाँ जम गया हूँ। (परिणाम) जायेंगे कहाँ ? उड़-उड़कर पतंग जायेगी कहाँ ? डोरी तो मेरे हाथमें है। जायेंगे कहाँ ? कभी इधर गुलाँट खाये कभी उधर गुलाँट खाये, (लेकिन) अरे...! कुछ नहीं, डोरी मेरे हाथमें है। ऐसी (बात) है। 'हे गुरुदेव ! आपके इन वचनों...' अब देखो ! है तो पुरुषार्थयुक्त परिणमन खुदका (लेकिन) डाल दिया गुरुदेव पर ! 'हे गुरुदेव ! आपके इन वचनोंने अपूर्व निश्चलता पैदा कर दी है।' मुझमें तो आपके वचनोंने कोई अपूर्व निश्चलता - अपूर्व स्थिरता पैदा कर दी है। बहुत जमावट की है ! बहुत माने गजबकी जमावट की है !! इसमें एकावतारीपना (प्रगट) कर दिया !! 'हे गुरुदेव ! आपके इन वचनोंने अपूर्व निश्चलता पैदा कर दी है। चंचलता व निश्चलता तो परिणाममें है, मैं नित्य हूँ, मेरेमें नहीं,...' ये चंचलता और निश्चलता भी मेरेमें नहीं, मैं तो नित्य हूँ। वह प्रश्न भी मुझे नहीं रहता। 'मैं नित्य हूँ, मेरेमें नहीं यह अनुभव अपूर्व है।' यह अनुभव अपूर्व है।

मुमुक्षु :- अमूर्तस्वरूप मूर्तस्वरूप जैसा दिखता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, मूर्ति ही, साक्षात् मूर्ति ही (देख लो) !! वह विषय ही पूरा अलग है। जो परिणाम स्वाभिमुख होते हैं, स्वके



अभिमुख होते हैं, उसमें स्वरूप प्रगट ही है ! सामान्यतया जीव ऐसा कहता है कि, मेरा स्वरूप अप्रगट है और मुझे प्रगट करना है, (यहाँ) कहते हैं, स्वरूपको प्रगट करनेका प्रश्न ही नहीं है। परिणाम जो परसन्मुख है वह स्वाभिमुख हो जाये तो स्वरूप तो प्रगट ही है। स्वरूपको प्रगट करनेका प्रश्न ही नहीं है। वास्तवमें तो (स्वरूप) प्रगट-अप्रगटके अनउभय स्वरूप है। ऐसा प्रगट है कि जिसे प्रगटता या अप्रगटताकी विविक्षा या अपेक्षा लागू नहीं होती। ऐसा अनुभय स्वरूप प्रगट है। परंतु समझानेके लिए ऐसा कहा कि, स्वरूप प्रगट है। वास्तवमें तो स्वरूप नित्य या अनित्य दोमेंसे एक भी नहीं, अनउभय स्वरूप है, परंतु समझानेके लिए नित्य है ऐसा कहना पड़ता है। एक तर्क करें (कि) यदि अनउभयस्वरूप न होता बल्कि नित्य होता तो पर्यायमें दिखा कहाँसे ? ज्ञानलक्षणमें आया कहाँसे ? उपयोग लक्षणमें आया कहाँसे ? क्योंकि वह तो अनित्य है। वरना ऐसे कहेगा कि स्वरूप तो नित्य है, नित्यमें फिर अनउभय स्वरूप क्यों लेते हो ? अनित्यमें लेना हो तो लो लेकिन नित्यमें ऐसी बात क्यों (करते हो) ? नित्यको व्यवहारनयका पक्ष क्यों कहा ? पंचाध्यायीमें एक अपेक्षा (ली) है कि, नित्य भी व्यवहारनयमें जाता है। अनित्य तो व्यवहारनयमें जाता है परंतु नित्य पक्ष भी व्यवहारनयमें (जाता है)। क्योंकि भेद पड़ा। तो कहते हैं कि, वस्तु तो निर्भेद है। नित्य-अनित्यताका भेद

नहीं है। द्रव्य-पर्यायका भेद नहीं है। प्रगट-अप्रगटका भेद नहीं है। अनुभवप्रकाशमें दीपचंदजीने लिया है, वस्तु प्रगट (भी नहीं और) अप्रगट भी नहीं, सर्व अवस्थामें जैसी है वैसी है। 'अनुभवप्रकाशमें ये बात उन्होंने ली है।

(यहाँ कहते हैं), 'यह अनुभव अपूर्व है। परिणाम क्षण-क्षण निराकुलताकी वृद्धि पामते हैं। 'तो पण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो,...' देखो ! ये श्रीमद्जीके वचनका उद्धरण किया है कि, '...तो पण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो, गुरु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो। (अर्थात्) जैसा मूलस्वरूप है वैसा अपने पुरुषार्थसे प्रगट करनेवाले हैं। उस स्वरूप-रूप परिणमन करनेवाले हैं, फिर भी गुरुआज्ञाको बीचमें रखी है। 'गुरु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो।' किसी भी विशेष बुद्धिमान जीवके लिए विचार करने जैसा प्रश्न यह है कि, श्रीमद्जीको कोई गुरु नहीं मिले हैं, फिर भी इतना वजन क्यों ? इस भवमें तो नहीं मिले। पूर्वभवमें मिले हैं, ये तो खुद जानते हैं, दूसरोंको तो मालूम नहीं, फिर भी सत्पुरुषके निमित्त व गुरु पर इतना अधिक जोर क्यों ? कि बात-बातमें यही आ जाता है, जरूर कोई रहस्य है इसमें। ऐसा कहना है।

'सम्यक् पुरुषार्थसे या तो पुण्ययोग होकर, अनुकूलता प्राप्त होकर राग टूटे अथवा पुण्यके अभावमें वीतरागता बढ़कर राग टूटे। राग टूटना निश्चित है,...' ये उनको खुदको खयाल आ गया है कि, या तो सम्यक् पुरुषार्थसे राग टूट जायेगा, या तो पुण्ययोग इतना बढ़ जायेगा कि मैं प्रवृत्ति छोड़ दूँगा (अर्थात्) प्रवृत्तिका राग छोड़ दूँगा - मुझे क्या जरूरत है अब ! काफी पैसे आ गये। दोनों प्रकारसे (बात करते हैं कि) मेरा तो प्रवृत्तिका राग टूटनेकी समीपता आ गई है। ये १९५६के सालमें लिखते हैं। 'सम्यक् पुरुषार्थसे (राग टूटे) या तो पुण्ययोग होकर, अनुकूलता प्राप्त होकर राग टूटे,...' मेरा अनुकूलता प्रत्ययी राग नहीं बढ़ेगा, राग टूट जायेगा, यों कहते हैं। अभीसे खयाल है। 'अथवा

पुण्यके अभावमें वीतरागता बढ़कर राग टूटे।' यदि मुझे पुण्यका सद्भाव न हुआ और ये प्रतिकूलता चालू रही तो इतनी वीतरागता बढ़ जायेगी कि हम कहीं चले जायेंगे। यह परिवारका राग नहीं रहेगा। बहुत जोर किया है, पुरुषार्थका गजब जोर किया है !! इतना अंदाज आ गया है कि शायद अनुकूलता न हुई तो वीतरागता बढ़ लेनी है, (परंतु) अब राग तो नहीं रहेगा। अब राग टूटनेकी परिस्थिति आ गई है। ये अंदरसे खयाल आता है।

'राग टूटना निश्चित है,...' क्यों ? 'राग टूटना निश्चित है, क्योंकि श्रद्धाने राग - अरागरहित...' कैसा (स्वभाव है) ? (सिर्फ) राग रहित नहीं (किन्तु) राग-अराग रहित। इसे अनउभय कहते हैं। आता है कि नहीं ? कितनी जगह अनउभय आता है ! राग-अरागरहित। राग रहितको तो वीतराग कहें, परंतु राग-अराग रहित ऐसा यह (स्वरूप) है। वीतराग अर्थात् रागका त्याग करें वे वीतराग। (समयसारजी)की गाथा ३४में आचार्य भगवानने ऐसा कहा है कि, रागका त्याग करना ये तो नाममात्र है। उसे त्याग करना ये कहाँ लागू होता है ? वीतराग विशेषण भी उसे लागू नहीं होता। इसका नाम अनउभयस्वरूप है।

'श्रद्धाने राग-अरागरहित स्वभावका आश्रय लिया है व वीर्यकी क्षण-क्षण उधर ही उधर सहज उन्मुखता होनेसे,...' देखो ! (ये) पुरुषार्थको (स्वयंने) प्रसिद्ध किया है ! 'वीर्यका क्षण-क्षण उधर ही उधर सहज उन्मुखता होनेसे ज्ञान-आनंदमयी अरागी परिणाम ही वृद्धिगत होंगे,...' यह हमारी स्थिति हो चुकी है। राग छूट जायेगा, इसका यह कारण है कि, श्रद्धाने (स्वभावका) ऐसा आश्रय लिया है और पुरुषार्थकी भी गति ऐसी ही चल रही है कि, अरागी परिणाम वृद्धिगत होंगे और राग टूट जायेगा। 'यह नियम प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।' यह नियम शास्त्रसे पढ़कर नहीं कहता हूँ, यह नियम गुरुसे सुना है इसलिए नहीं कहता (परंतु) प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है। इसका तो मुझे अनुभव वर्तता है (कि) ऐसा ही होगा, अब दूसरा नहीं होगा। यह

पुरुषार्थका, इन दिनों - १९५५-१९५६के (सालमें) काफी जोर है।

‘अभी रात्रिके आठ बजे हैं, मंदिरजी जानेका समय है अतः बंद करता हूँ। सबको धर्मरत्नेह।’ (लिखते-लिखते) समयका ख्याल गया होगा इसलिए पत्र लिखना बंद किया है।

१९५५-१९५६में उनकी प्रत्यक्ष स्थिति देखी जाये तो इस पत्रमें उनके जो शब्द हैं, ये इनकी स्थितिको प्रदर्शित करते हैं।

पत्र आने पर (पढ़नेवाला) पढ़ भी ले (और उसे अच्छा भी लगे कि) पत्र बहुत बढ़िया है, तत्त्वकी बात लिखी है, पुरुषार्थ उनका चलता है। क्षयोपशम होनेसे (पढ़नेवाला) विषय तो पकड़ ले कि, श्रद्धका जोरवाला विषय बहुत आता है (परंतु) पहचान होना अलग बात है, जानपना दूसरी बात है और जानपना न हो लेकिन ओघसंज्ञा होना, वह दूसरी बात है। परिणाममें ऐसे-ऐसे भेद-प्रभेद हैं।

ओघसंज्ञा दो प्रकारकी होती हैं। एक बिना जानपना और दूसरी जानपना सहित। जैसे कि सामान्यतः अपने यहाँ तत्त्वके विषयकी चर्चा होती है, इतनी प्रचलित हुई है, प्रसिद्ध हुई है, अतः मुमुक्षुको जानपना हो जाता है, फिर भी ओघसंज्ञा नहीं जाती। यह ओघसंज्ञाका एक प्रकार है। अतः

यहाँ ऐसी भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि यह ओघसंज्ञा नहीं है। जबकि किसीको जानपना नहीं भी हो, और उतना उघाड़ नहीं हो और पकड़में नहीं आता हो फिर भी बहुमान रहा करे, भक्ति रहा करे (तो) वह भी ओघसंज्ञा है।

मुमुक्षु :- जानकारी हो जाये और लगे कि हम तो बराबर समझकर करते हैं।

पूज्य भाईश्री :- यहाँ खतरा है, यहाँ थोड़ा जोखिम कि, अब (मुझे) ओघसंज्ञा नहीं है - ऐसा नहीं लगना चाहिए। जब तक भाव भासित न हो तब तक ओघसंज्ञा है। ऐसी स्पष्ट समझ हो तो धोखा नहीं खायेगा और तभी उसके पुरुषार्थकी गति उत्पन्न होनेका अवकाश रहेगा, वरना पुरुषार्थ अटक जायेगा कि, मुझे तो पता है, इसमें पुरुषार्थ अटक जायेगा। पुरुषार्थ आगे नहीं चलेगा, रुचि आगे नहीं बढ़ेगी। जिज्ञासा नहीं रहेगी। ये सारी परिस्थिति खड़ी हो जायेगी और आगे बढ़नेका दरवाजा बंद हो जायेगा। जानपनेमें संतुष्ट हो जायेगा। जानपना होनेमें फायदा भी है और नुकसान भी है। अधूरी समझ नुकसान करती है। पूरी तरह जानना चाहिए कि, भावभासन हुए बिना इस समझका कोई मूल्य नहीं है; जब तो दिक्कत नहीं है और कहीं अटकेगा नहीं।

‘स्वानुभूतिप्रकाश’ (हिन्दी) का स्वामीत्वका विवरण फॉर्म नं.४, नियम नं. ८

पत्रका नाम : ‘स्वानुभूतिप्रकाश’ (हिन्दी)
 प्रकाशन स्थल : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
 प्रकाशन अवधि : मासिक
 मुद्रक : भगवती ऑफसेट, १५/सी बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८०००४
 प्रकाशकका नाम : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
 संपादकका नाम : हीरालाल जैन, (भारतीय), ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
 स्वामित्व : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
 मैं, हीरालाल जैन, एतद द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकृत जानकारी और विश्वास अनुसार उपरोक्त विवरण सत्य है।

ता. ३१ मार्च, २०११

हीरालाल जैन
 मेनेजिंग ट्रस्टी, श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट

(पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा)

बाहर का चाहे जो जाना तथापि वैसे उपयोग को स्थूल कहा जाता है, क्योंकि स्वयं को ग्रहण नहीं किया। स्वसन्मुख नहीं हुआ, अपनी ओर नहीं मुड़ा, स्वभाव को नहीं पहिचाना इसलिये उस बाह्य स्थित उपयोग को स्थूल कहा जाता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-१९९)



प्रश्न :- स्थूल उपयोग का विवेचन किया वह जो जाना, अब सूक्ष्म उपयोग के सम्बन्ध में भी विस्तारपूर्वक बतलाने की कृपा करें।

समाधान :- जो उपयोग अपने अंतर में जाय वह उपयोग सूक्ष्म है। जो अपने सम्मुख हो कि 'मैं यह चैतन्य हूँ, मैं चैतन्य द्रव्य हूँ, मैं ज्ञायक हूँ - इसप्रकार अपने स्वभाव की ओर जाय तो उसकी दिशा बदलती है, इसलिये उस उपयोग को सूक्ष्म कहा जाता है।

स्थूल उपयोग की दिशा तो बाहर की बाहर

ही है। यदि अपने अरूपी तत्त्व को ग्रहण करे तो उसकी अंतर में दिशा फिरे जो उपयोग सूक्ष्म है। अंतर में जाकर स्वभाव को ग्रहण करे वह उपयोग सूक्ष्म है। शान्त होकर अंतर में दृष्टि करे कि यह स्वभाव है और यह विभाव है; - इस प्रकार अपने स्वभाव को ग्रहण करे तो उस उपयोग को सूक्ष्म कहा जाता है। (स्वानुभूतिदर्शन-२००)



प्रश्न :- विकल्पात्मक भावभासन को यथार्थ कहा जायगा ?

समाधान :- विकल्पात्मक भावभासन बुद्धि से होता है, उसे व्यवहार से यथार्थ कहा जाता है; किन्तु असल में यथार्थ तो चैतन्य को ग्रहण करे तभी कहा जाता है। बुद्धि से निर्णय करे उसे व्यवहार से कहा जाता है, परन्तु वास्तविकरूप से स्वयं अपने को ग्रहण करे तब वह यथार्थ कहलाता है। (स्वानुभूतिदर्शन-२०१)



धार्मिक कार्यक्रम

सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई के वार्षिक समाधिदिन पर तीन दिवसीय धार्मिक कार्यक्रम निम्नोक्त स्थान पर आयोजित किया गया है। चैत सुदी ३, बुधवार दि. ६-४-२०११ से चैत सुदी ५, शुक्रवार दि. ८-४-२०११ पर्यंत जीनमंदिर में मंडलविधान रखा गया है। एवं 'शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर' में प्रातः ७.०० से ८.०० पूज्य भाईश्री शशीभाई का सीडी प्रवचन, दोपहर ४.०० से ५.०० गुणानुवाद, रात ८.०० से ९.०० पूज्य भाईश्री शशीभाई का वीडियो प्रवचन एवं भक्ति रखी गई है। दि. ८-४-२०११, चैत सुदी ५ के दिन सुबह ४.०० बजे 'शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर' में भक्ति एवं दो मिनट का मौन रखा जायेगा। तत्पश्चात् ७.०० से ८.०० प्रवचन और बाद में पूज्य भाईश्री के समाधि स्थल पर भक्ति रखी गई है। इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षुओं के लिए आवास एवं भोजन व्यवस्था निःशुल्क रखी गई है। आनेवाले मुमुक्षु भाई-बहनों से विनम्र सूचन है की वे अपने आने कि सूचना पहले से दे, ताकि उनके आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

संपर्क :- श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर, फोन : (०२७८) २५१५००५

अग्रिम निमंत्रण

सद्धर्मप्रेमी धर्मवत्सल भाईश्री / बहिनश्री

वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर १००८ श्री महावीरस्वामी शासन उद्योतकर, जिनधर्म रहस्योद्घाटक, पंचमकाल को चतुर्थकाल में परिवर्तित करनेवाले अनेकान्त स्याद्वादमयी जिनवचन में रमण करनेवाले, अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की अध्यात्म देशना जगप्रसिद्ध है। पूज्य गुरुदेवश्री का महाविदेह से भरत में आगमन होने पर भरतक्षेत्र में पुनः सत्यधर्म का उद्योत हुआ, अनेक जीव आत्मकल्याण के पवित्रकल्याणकारी मार्ग में परायण हुए। शाश्वत् सुखदर्शक जिनवाणी के मर्म को पूज्य गुरुदेवश्री ने स्वयं की देशना द्वारा प्रसिद्ध किया। यह पवित्र गंगा आज भी अविचलरूप से बह रही है और आगे पंचमकाल के अंत तक बहती रहेगी।

प्रत्येक तीर्थकरों के पुराण लिखे जाते हैं। उसमें उनके आगे-पीछे के भवों का भव्य इतिहास अंकित किया जाता है। हमारे पूज्य गुरुदेवश्री भी भविष्य में घातकी खण्ड के भावी तीर्थकर के जीव हैं; यह बात प्रशममर्ति पूज्य बहिनश्रीने अपने दिव्य अलौकिक जातिस्मरण ज्ञान के झरीये जाहिर की। तीर्थकर कभी अकेले मोक्ष नहीं जाते, अनेकों भव्य जीव उनके साथ मोक्ष की ओर पदार्पण करते हैं। पूज्य गुरुदेवश्रीने स्वयं के सातिशय भव्य पुरुषार्थ के द्वारा कल्याणकारी सम्यक्दर्शन को प्रगट किया और भारतवर्ष में दिव्यदेशना द्वारा उसका उद्योत किया।

४५-४५ वर्ष तक सोनगढ़ में रहकर उन्होंने आत्मसाधना की। अनेकों जीव पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यवाणी का लाभ पाकर संस्कार को प्राप्त हुए। परन्तु सोनगढ़ की वह पवित्रभूमि तब फलवती हुई कि जब पुरुषार्थमूर्ति अजोड़ धर्मरत्न पूज्य निहालचंद्र सोगानीजीने एक ही प्रवचनश्रवण के माध्यम से भवच्छेदक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और पूज्य गुरुदेवश्री के स्वर्णिम इतिहास में एक यशकलगी लगा दी और गुरु-गौरव को वृद्धिगत किया।

पूज्य सोगानीजी एक ऐसे धर्मात्मा शिष्यरत्न हुए कि जिनका पूज्य गुरुदेवश्री के साथ प्रत्यक्ष चर्चा-वार्तालाप द्वारा विशेष परिचय में आना नहीं हुआ। और तो और उनके परिचय में काफ़ी कम मुमुक्षुओं का आना हुआ और इनमें भी उनकी ज्ञानदशा की पहचान होना सबके बस का काम नहीं। ऐसी परिस्थिति में जिनमार्ग रहस्यज्ञ, विधि-प्रकाशक, निष्कारण करुणाशील, करुणासागर, आत्महितैषी, सौम्यमूर्ति पूज्य 'भाईश्री' शशीभाई का उनके परिचय में आना हुआ परिणामतः पूज्य सोगानीजी के तीव्र पुरुषार्थ की गति को उन्होंने अपनी विचक्षण प्रज्ञा द्वारा परख ली। हालाँकि पीछे से उनके अक्षरदेह को 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में इनके पत्रों व चर्चा के माध्यम से देखा तो पूज्य गुरुदेवश्रीने सोगानीजी के पुरुषार्थ की तारतम्यता को देखते हुए कहा, ये जीव एकावतारी हैं और हम जब तीर्थकर के भव में दीक्षा ग्रहण करेंगे तब 'णमोः सिद्धाणं' में हमारे नमस्कार उन्हें पहुँचेंगे !! अहो ! धन्य

गुरु ! धन्य शिष्य !

यही पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी की १०० वीं जन्मजयंति मनाने का सद्भाग्य हमें संप्राप्त हुआ है यह हमारा परम सौभाग्य है। इस पावन अवसर पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के हम सांप्रत मुमुक्षु समाज पर हुए उपकार को हृदयंगम करके उनके चरणों में कोटि कोटि प्रणाम करते हैं।

धर्मात्माओं की जन्मजयंति के प्रत्येक प्रसंग मंगलमय ही हैं किन्तु हमारे जीवनकाल में किसी भी धर्मात्मा की १०० वीं जन्मजयंति मनाने का सौभाग्य मिलना यह विशेषतम जानते हुए पूज्य सोगानीजी की १०० वीं जन्मजयंति, दि.१३-५-२०११ को त्रिदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम के साथ अति हर्षोल्लास से सोनगढ़ की धन्य धरातल पर निर्मित 'गुरु गौरव' स्मारक में मनाने का निश्चित किया गया है। भारतवर्ष के समस्त मुमुक्षु समाज को इस पावन अवसर पर आमंत्रित करते हैं। यहाँ आमंत्रित मुमुक्षु को पूज्य सोगानीजी, पूज्य गुरुदेवश्री व परमकृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्र की संगेमरमर में उत्किर्ण भव्य प्रतिमाओं का व पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन व पूज्य भाईश्री शशीभाई के भव्य चित्रपट के दर्शन का लाभ होगा। तदुपरांत पूज्य सोगानीजी के सचित्र जीवनदर्शन का लाभ भी मिलेगा व सोनगढ़ में निर्मित सर्व जिनायतनों के दर्शन का सुअवसर भी संप्राप्त होगा। आपके आने की अग्रिम सूचना हमें दें ताकि आपके आवास व भोजन की समुचित व्यवस्था की जा सके।

धार्मिक कार्यक्रम

दि.११-५-२०११ से १३-५-२०११

प्रातःकाल : ५-४५	पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा (उनके निवासस्थान पर)
६-३० से ७-१५	जिनमंदिर में पूजन
७-३० से ८-००	चाय-नास्ता
८-३० से ९-३०	पूज्य गुरुदेवश्री का टेप प्रवचन (स्वाध्याय मन्दिर में)
१०-०० से ११-००	पूज्य भाईश्री शशीभाई का टेप प्रवचन ('गुरु-गौरव')
११-३० से १२-३०	भोजन
दोपहर ३-०० से ४-००	पूज्य गुरुदेवश्री का टेप प्रवचन (स्वाध्याय मंदिरमें)
४-१५ से ५-१५	पूज्य सोगानीजी का गुणानुवाद ('गुरु-गौरव')
शाम ६-०० से ७-००	भोजन
रात्रि ८-०० से ९-००	पूज्य गुरुदेवश्री का टेप प्रवचन (स्वाध्याय मंदिर)
९-१५ से १०-१५	सांस्कृतिक कार्यक्रम व भक्ति (गुरु-गौरव)

ट्रस्ट का इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मार्च-२०११) का शुल्क श्रीमति श्वेताबहन भाविनभाई सावला, (मुंबई) के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- चौथे गुणस्थान से पाँचवाँ गुणस्थान आये तो उसकी ज्ञानी को कैसे खबर पड़ती है ?

समाधान :- उसकी स्वानुभूतिदशा बढ़ती जाती है, अंतर में परिणति की निर्मलता बढ़ती जाती है; गृहस्थाश्रम के योग्य जो परिणाम हों उनसे विरक्ति के परिणाम विशेष बढ़ते जाते हैं, इसलिये वह जान सकता है। (स्वानुभूतिदर्शन-१९५)



प्रश्न :- पाँचवें गुणस्थान में निर्विकल्पदशा बढ़ती जाती है ?

समाधान :- हाँ, निर्विकल्पदशा बढ़ती जाती है और सविकल्पदशा में भी विरक्ति बढ़ती जाती है। निर्विकल्पदशा भी बढ़ती है और सविकल्पदशा में भी विरक्ति अधिक होती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-१९६)



प्रश्न :- चौथे के चौथे गुणस्थान में भी इसप्रकार फेरफार होता होगा क्या ?

समाधान :- चौथे गुणस्थान की भूमिका एक की एक हो, परन्तु परिणति की तारतम्यता में अमुक फेर होता है। (स्वानुभूतिदर्शन-१९७)



प्रश्न :- किसी लक्षण से खयाल आता है कि यह सच्ची मुमुक्षुता है ?

समाधान :- 'मात्र मोक्ष अभिलाष' - जिसे एक आत्मा की अभिलाषा है, अन्य कोई अभिलाषा नहीं है; प्रत्येक कार्य एवं प्रत्येक प्रसंग में मुझे तो एक आत्मा ही चाहिये, इसप्रकार जिसे एक आत्मा-का ही ध्येय है और जो भी संकल्प-विकल्परूप विभाव हों उनमें तन्मयता नहीं है, किन्तु मात्र आत्मा की अभिलाषाही मुख्यरूप से वर्तती है उसे सच्ची मुमुक्षुता है। जिसे मात्र आत्मा की



अभिलाषा है कि मुझे आत्म-प्राप्ति कैसे हो ? स्वानुभूति कैसे हो ? और जिसे बाह्य के किसी पदार्थ की इच्छा या अभिलाषा नहीं है; वह किन्हीं बाह्य कार्यों में जुड़े, तथापि वे सब गौण होते हैं; उसका ध्येय तो एकमात्र आत्म-प्राप्ति का है कि मुझे आत्मा कैसे प्राप्त हो ? यद्यपि उसको देव-शास्त्र-गुरु की महिमा आदि सब होते हैं, किन्तु आत्मा के बिना उसे कहीं चैन नहीं पड़ता। गुरुदेव कहते थे कि तू अपने आत्मा को देख, तू आत्मा का ज्ञान कर, यह सब (विभाव) तुझसे पृथक् है। - इसप्रकार स्वयं अंतरंग जिज्ञासापूर्वक आत्मा को ग्रहण करने का प्रयत्न करे वह सच्ची मुमुक्षुता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-१९८)



प्रश्न :- ग्यारह अंग का ज्ञान किया हो तथापि शास्त्र में उस उपयोग को स्थूल कहा है, और जिस उपयोगने चैतन्यस्वभाव को ग्रहण किया उसे सूक्ष्म कहा है, उसका क्या कारण ?

समाधान :- क्योंकि चैतन्यतत्त्व को ग्रहण नहीं किया इसलिये उपयोग स्थूल है। यदि अपने चैतन्यतत्त्व को ग्रहण करे तो वह उपयोग सूक्ष्म है। ग्यारह अंगका ज्ञान किया उसमें सब जाना, किन्तु अंतरमें आत्मा को ग्रहण नहीं किया इसलिये उपयोग स्थूल है।

बाह्य श्रुतज्ञान में भले ही द्रव्य-गुण-पर्याय जान, लिये, सब जाना सही, परन्तु 'मैं यह चैतन्य हूँ' ऐसे ग्रहण नहीं किया इसलिये उपयोग स्थूल है। वह उपयोग स्वसन्मुख नहीं हुआ और बाहर का बाहर रहा इसलिये स्थूल है। जो उपयोग चैतन्य को ग्रहण करे वह उपयोग सूक्ष्म है।

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१८ पर)

बंबई, प्रथम आषाढ, वदी ३, रवि, १९४९
मुमुक्षुजन के परमबांधव, परमस्नेही श्री सुभाग्य, मोरबी।

यहाँ समाधि का यथायोग्य अवकाश नहीं है। अभी कोई पूर्वोपार्जित प्रारब्ध ऐसे उदय में रहता है।

गत साल के मार्गशीर्ष मासमें यहाँ आना हुआ, तभीसे उत्तरोत्तर उपाधियोग विशेषाकार होता आया है, और बहुत करके उस उपाधियोग का विशेष प्रकार से उपयोग द्वारा वेदन करना पड़ा है।

इस काल को तीर्थकरादिने स्वभावतः दुषम कहा है। उसमें विशेष करके प्रयोग से अनार्यता के योग्यभूत ऐसे इन क्षेत्रों में यह काल बलवानरूपसे रहता है। लोगों की आत्मप्रत्यय योग्यबुद्धि अत्यंत नाश हो जाने योग्य हुई है, ऐसे सब प्रकार के दुषमयोग में व्यवहार करते हुए परमार्थ का विस्मरण अत्यंत सुलभ है। और परमार्थ का स्मरण अत्यंत अत्यंत दुर्लभ है। आनंदघनजीने चौदहवें जिनेंद्र के स्तवन में कहा है, उसमें इस क्षेत्र की दुषमता इतनी विशेषता है, और आनंदघनजी के कालकी अपेक्षा वर्तमानकाल विशेष दुषमपरिणामी है। उसमें यदि किसी आत्मप्रत्ययी पुरुष के लिये बचने योग्य कोई उपाय हो तो वह एक मात्र निरंतर अविच्छिन्न धारा से सत्संग की उपासना करना यही प्रतीत होता है।

प्रायः सर्व कामनाओं के प्रति उदासीनता है, ऐसे हमको भी यह सर्व व्यवहार और कालादि, गोते खाते खाते संसारसमुद्र को मुश्किल से तरने देता है। तथापि प्रति समय उस परिश्रमका अत्यंत प्रस्वेद उत्पन्न हुआ करता है, और उत्ताप उत्पन्न होकर सत्संगरूप जलकी तृषा अत्यंतरूपसे रहा करती है, और यही दुःख लगा करता है।

ऐसा होनेपर भी ऐसे व्यवहार का सेवन करते हुए उसके प्रति द्वेषपरिणाम करना योग्य नहीं है, ऐसा जो सर्व ज्ञानीपुरुष का अभिप्राय है, वह उस व्यवहार को प्रायः समता से कराता है। आत्मा उस विषय में मानो कुछ करता नहीं है, ऐसा लगा करता है।

विचार करने से ऐसा भी नहीं लगता कि यह जो उपाधि उदयवर्ती है, वह सर्व प्रकार से कष्टरूप है। पूर्वोपार्जित प्रारब्ध जिससे शांत होता है, वह उपाधि परिणाम से आत्मप्रत्ययी कहने योग्य है।

मन में ऐसा ही रहा करता है कि अल्पकाल में यह उपाधियोग मिटकर बाह्याभ्यंतर निर्ग्रथता प्राप्त हो तो अधिक योग्य है। तथापि यह बात अल्पकाल में हो ऐसा नहीं सूझता, और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वह चिंता मिटनी संभव नहीं है।

दूसरा सब व्यवहार वर्तमान में ही छोड़ दिया हो, तो यह हो सकता है। दो तीन उदय-व्यवहार ऐसे हैं कि जो भोगने से ही निवृत्त हो सकते हैं; और कष्टसे भी विशेष काल की स्थितिमें से अल्पकाल में उनका वेदन नहीं किया जा सकता ऐसे हैं; और इसी कारण से मूर्ख की भाँति इस व्यवहार का सेवन किया करते हैं।

किसी द्रव्य में, किसी क्षेत्र में, किसी काल में, किसी भाव में स्थिति हो, ऐसा प्रसंग मानों

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१४ पर)

